

इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में शिक्षा की गुणवत्ता : भारत की सीख

— ♦ कृष्ण कुमार

औद्योगिक समाज के बाद के स्वरूप में काम के बदलते रूप में असमानताओं के नए प्रकार उभर रहे हैं। वैश्वीकरण इन्हें भारत तक ला रहा है तथा यहां मौजूद असमानताओं को और बढ़ा रहा है। कृष्ण कुमार ध्यानपूर्वक पड़ताल करते हैं कि इस युग में अच्छी शिक्षा के क्या मायने हैं। वे गुणवत्ता ज्यादा प्रचलित धारणाओं के मुकाबले भारतीय शिक्षा में की गई कुछ ऐसी पहलों को उजागर करते हैं जो मील के पत्थर साबित हुई हैं।

‘गुणवत्ता’ सामान्य के संदर्भ में मूल्यवत्ता में अंतर को संप्रेषित करती है। अगर किसी वस्तु में गुणवत्ता होती है तो उसे उसी वस्तु के गुणवत्ताहीन रूप से कम सुलभ मान लिया जाता है। अतः गुणवत्ता की धारणा का निहितार्थ है उसी वस्तु के दो या दो से अधिक रूप हैं जिन्हें ऊंचे या नीचे क्रम में रखा जा सकता है ताकि उस मूल्यवान गुण की सापेक्ष मौजूदगी का पता चले। इसी निहितार्थ के चलते, क्या आश्चर्य कि शिक्षा के लम्बे इतिहास में गुणवत्ता सुनिश्चित करने की चिन्ता सार्वजनिक पहुंच की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक रूप से हाल ही में उभर सकी है। प्राचीन तथा मध्ययुगीन शिक्षा प्रणालियों में शिक्षा एक विशेषाधिकार हुआ करता था जो कुलीनों के पास था और स्वयं ही गुणवत्ता या वैशिष्ट्य संप्रेषित करता था। एकलव्य की गाथा, जो भारतीय महाकाव्य महाभारत में आती है, शिक्षा तथा कुलीनों के संबंधों की क्रूरता का सटीक दृष्टान्त है। इस कथा में एक आदिवासी बालक को खुल्लम-खुल्ले एक प्रसिद्ध गुरु से, जिनकी नियुक्ति स्थानीय राजकुमारों को प्रशिक्षित करने के लिए की गई थी, धनुर्विद्या सीखने के अवसर से वंचित किया जाता है। इससे हतोत्साहित न होकर वह आदिवासी बालक उस प्रसिद्ध गुरु की एक मिट्टी की मूर्त गढ़ उनकी सांकेतिक उपस्थिति मान, इस विद्या में महारत हासिल कर लेता है। जब यह गुप्त स्व-प्रशिक्षण का रहस्य एक दिन उजागर होता है तो गुरुजी उससे गुरु-दक्षिणा के रूप में उसके दाहिने हाथ का अंगूठा कटवा लेते हैं। यों वह शिक्षक उस सामाजिक व्यवस्था को पुनर्स्थापित करते हैं जो केवल राजकुमारों को ही श्रेष्ठतम किस्म की धनुर्विद्या पाने की अनुमति देती थी।

आधुनिकता ने शैक्षिक अवसरों के वितरण में श्रेणीबद्धता के सिद्धान्त को झकझोर दिया है। आधुनिकीकरण का सर्वव्यापी प्रभाव विश्व भर में अब भी फैलता जा रहा है; यह फैलाव औद्योगिकृत समाजों तक में समाप्त नहीं हुआ है, जहां साक्षरता तथा बुनियादी शिक्षा का सार्वजनीकरण उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगीकरण तथा सामाजिक राजनैतिक व सांस्कृतिक गत्यात्मकता की आवश्यकताओं के चलते

प्रारंभ हो गया था। इस प्रभाव का एक प्रमुख आयाम है गुणवत्ता का प्रश्न : गुणवत्ता की अवधारणा कैसी हो और उसे कैसे कायम रखा जाए ताकि वह बाल्यावस्था में एक सार्वजनिक विशेषाधिकार बन सके। जाहिर है कि यह प्रश्न बाल्यावस्था को यंत्रणा तथा विभिन्न प्रकार की असमानताओं व अन्यायों के अनुभव से बचाने के आदर्श से जुड़ा है, जो मानव के जीवन में आम हैं तथा बारंबार होते हैं। औद्योगिक रूप से विकसित या उस अर्थ में विकसित समाजों में बाल्यावस्था में शिक्षा की गुणवत्ता ने जो चुनौती रखी उसे डिवी ने अपनी श्रेष्ठ रचना 'डिमोक्रेसी एण्ड एज्युकेशन' (1916) में सामाजिक कुशलता का नाम दिया ताकि भागीदारी तथा संप्रेषण की उच्च दर का आभास हो सके। वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि विकसित दुनिया में गुणवत्ता तथा प्रतिष्ठा का सह-संबंध मिटाने का लक्ष्य पाया जा चुका है। विश्व के जिन भागों में औद्योगिकरण देर से प्रारंभ हुआ, खासतौर से जहां-जहां उपनिवेशवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का प्रभाव था, वहां गुणवत्ता तथा समानता के बीच तनाव सामाजिक तथा नीतिगत परिवर्तनों के आड़े आता रहा है (डोरे, 1980)। स्वर्गीय जे.पी. नाइक ने, जो भारत में आधुनिक शिक्षा-नियोजन के जनक थे, इस तनाव को 1975 में दिए गए अपने टैगोर भाषण के शीर्षक में बखूबी समेटा। शैक्षिक नीति पर पड़ रही मांगों तथा विरोध की विपरीत खींचतान का उल्लेख करते हुए उन्होंने समानता, गुणवत्ता तथा संख्यात्मकता को 'दुर्ग्राह्य त्रिकोण' कहा (नाइक, 1975)।

गुणवत्ता की अवधारणा

गुणवत्ता को लेकर जो सरोकार रहा है, वह काफी अस्पष्ट तथा सामाजिक सिद्धान्त में मजबूती से स्थापित नहीं रहा है। वैश्विक स्पर्धा से जुड़ी प्रक्रियाओं व अपरिहार्यताओं तथा तेजी से हो रहे तकनीकी परिवर्तनों तथा आर्थिक अनिश्चितता के प्रभाव ने एक संरक्षणत्मक माहौल में पलने-बढ़ने तथा शिक्षित होने का बच्चों का अधिकार छीन लिया है। ये समस्याएं बिल्कुल नई भी नहीं हैं, परन्तु इसलिए अधिक जटिल नजर आती हैं क्योंकि किसी भी विचार या नीति के मूल्य का आकलन अब बाजार के संदर्भ में ही होता है। क्योंकि वर्तमान राजनैतिक अर्थव्यवस्था में ज्ञान तथा प्रशिक्षण बेहद महत्वपूर्ण घटक बन चुके हैं, शिक्षा के सभी स्तरों पर यह दबाव भी है कि उसे बाजार अभिमुख व बाजार-लायक बनाया जाए। इस स्थिति के भय में शिक्षा की अवधारणा ही संकटग्रस्त नजर आती है। बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली शिक्षा समाजशास्त्री स्वर्गीय बेसिल बर्नस्टाइन ने इस संकट को स्पष्ट करते हुए बाजार प्रबंधकों की लम्बाती परछाइयों का जिक्र किया था :

बाजार के सिद्धान्त तथा उसके प्रबंधक अब अधिकाधिक शिक्षा की नीति तथा अभ्यासों के प्रबंधक बनते जा रहे हैं। विमर्श के चयन, उनके पारस्परिक रिश्तों, उनके स्वरूपों तथा उनके शोध तक बाजार-प्रासंगिकता के मुख्य अभिमुखीकरण मापदण्ड पर आधारित है। इस चलन के प्राथमिक शाला से लेकर विश्वविद्यालय तक में गहन निहितार्थ हैं। यह हम प्राथमिक स्तर पर मापे जा सकने वाले मूल कौशलों पर, उच्च माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमों तथा विशेषज्ञताओं तथा उच्च शिक्षा तथा शोध में जाली विकेन्द्रीकरण तथा राजकीय नियंत्रण के नए उपकरणों पर दिए जा रहे बल में स्पष्ट देख सकते हैं।

(बर्नस्टाइन, 1996, पृ.87)

बर्नस्टाइन के सरोकार हमें उस पैमाने का एक फौरी आभास देते हैं, जिस पर हमें शिक्षा के संदर्भ में गुणवत्ता की फ्रिक करनी है तथा हमें चेताते हैं कि इन सरोकारों तथा चर्चाओं को केवल विकासशील देशों तक सीमित रखना भारी भूल होगी।

गुणवत्ता को लेकर मौजूदा सरोकार का तात्कालिक उद्भव वैश्वीकरण के विचार में, खासकर उससे जुड़ी अनिश्चितताओं में मिलता है। वैश्वीकरण दरअसल किनसे गठित है, शिक्षा के लिए उसके क्या निहितार्थ हैं तथा उसका भविष्य क्या हो सकता है; आदि प्रश्नों पर कोई सहमति नहीं है। साथ ही वैश्वीकरण पर विमर्श अनपेक्षित तेजी से बदलता रहा है। सोवियत यूनियन के पतन के तत्काल बाद जो साहसिक, अक्सर रूमानी घोषणाएं की गई थीं, उनका स्थान अधिक सतर्क टिप्पणियों ने ले लिया है। संसाधनों, प्राकृतिक तथा मानव-संसाधन, दोनों ही के लिए विभिन्न देशों के बीच जो होड़ है, वह भी बढ़ती उग्रता व हिंसा के साथ-साथ प्रबल हुई है। आर्थिक विकास, रोजगार तथा कुशलक्षेम, ज्ञान तथा अवसरों तथा समृद्धि और सुरक्षा के बीच रिश्ते अज्ञेय नहीं तो अस्पष्ट होते जा रहे हैं। इससे भी अधिक विचलित यह करता है कि अब यह भी अस्पष्ट है कि जो आधुनिकता विवेक व्यक्ति तथा लोकतंत्र पर बल देता है- दरअसल मानवता के एक अल्पांश मात्र से अधिक के लिए एक औचित्यपूर्ण आदर्श है भी या नहीं (ग्रे, 2001)।

शिक्षा के संदर्भ में गुणवत्ता को जिस प्रकार परिभाषित किया जा रहा है, उसमें वैश्वीकरण के साथ जुड़ी अनिश्चितताएं, अस्थिरता तथा स्पर्धा के दबाव सभी प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञान का वस्तुकरण तथा छात्र को एक उत्पाद के रूप में देखना, नई बात नहीं है: जिस समय सांस्थनिक शिक्षा को औद्योगिक अर्थव्यवस्था से परस्पर जोड़ा गया,

तब ही से यह अर्थ निहित था। इसी प्रकार मानव-संसाधन-विकास के लिए शिक्षा को माध्यम मानने का विचार भी नया नहीं है। ये पक्ष पूंजीवाद के तहत हो रहे आधुनिकीकरण में शिक्षा की भूमिका के अभिन्न भाग हैं। जो बात नई है वह यह कि उन्नत पूंजीवाद में आधुनिकता की मूल्य व्यवस्था भारी दबाव में आ गई है (हाइलब्रोनट, 1992)। वैश्विक इतिहास के हालिया चरण में, आधुनिकता की संस्कृति के एक आयाम के रूप में शिक्षा की भूमिका- जिसमें समानता, व्यक्ति का सम्मान तथा सामाजिक न्याय की गुंजाइश आदि पर बल भी दिया जाता है- अभूतपूर्व दबाव झेल रही है। वैश्वीकरण की अवधारणा इस हालिया इतिहास को समझने में हमारी खास सहायता नहीं कर पा रही है; हद-से-हद उससे केवल उन मुद्दों को रेखांकित मात्र किया जा सकता है, जिनका वास्तविक जगत में हमें गहन अध्ययन करना तथा उनसे निपटना चाहिए। कुछ मुद्दों की शिक्षा में प्रत्यक्ष प्रासंगिकता है, खासकर यह अंतर कर पाने में किस प्रकार की शिक्षा गुणवत्तापूर्ण है तथा कौनसी सरकार या गैर-सरकारी संगठनों की ओर से इस सेवा तक लोगों की पहुंच बढ़ाने का नाम भर कर रही है।

संभवतः, दो सबसे महत्वपूर्ण मुद्दे जिनकी छानबीन हमें करनी चाहिए वे हैं- शिक्षा तथा काम एवं शिक्षा तथा संस्कृति के बीच के मुद्दे। इनमें से पहले पर ध्यान इसलिए दिया जाना चाहिए क्योंकि उत्पादन प्रक्रियाएं तथा वित्तीय प्रबंधन कैरियर तथा आत्म-विकास के लिए शिक्षा तथा नौकरी के स्थिर अवसरों के बीच जो परंपरागत जुड़ाव था, उसकी अनुमति नहीं देते। जैसा स्मिथ (1999) ने चर्चा की थी कि आज उत्पादन की जो नैगमिक संस्कृति उभर रही है, उसमें काम को आत्म-संतोष तथा आत्म-सम्मान के स्रोत के रूप में देखने का विचार ही अप्रासंगिक बन गया है। फ्रैंकलिन (1999) इस बदलाव की जड़ें प्रौद्योगिकी की सामाजिक संरचनाओं में देखती हैं। विख्यात भौतिकशास्त्री होने के नाते फ्रैंकलिन यह गुहार करती हैं कि हमारे युग की वित्तीय तथा नैतिक दुविधाओं को सुलझाने के लिए हमने जो तकनीकी चुनाव किए थे, उनके सामाजिक चरित्र संबंधी बहसों पर हमें लौटना होगा। वे सीखने के 'वृद्धि' तथा 'उत्पादन' मॉडलों में भी अंतर करती हैं तथा 'वृद्धि' को अधिक मूल्यवान मानती हैं।

वैश्वीकरण ने जिस दूसरे मुद्दे को उभारा है वह है शिक्षा तथा संस्कृति के बीच का संबंध। सैद्धान्तिक रूप से यह आधुनिकीकरण तथा संस्कृति के रिश्ते की ही एक उप-शृंखला है। जैसा दुबे (1988) संकेत करते हैं कि आधुनिकीकरण के प्रारंभिक सिद्धान्तकारों व नियोजकों ने संस्कृति की उपेक्षा की; परिणामतः, नृजातीय (एथनिक) पहचानें आधुनिक संस्थाओं के ऐन नाक के नीचे फली-फूलीं। इस

अर्थ में स्थानवाद आज उतना ही नजर आता है, जितना विश्ववाद और आधुनिकता इन दोनों ही क्षेत्रों में विवेक की गुहार लगा पाने में अपर्याप्त है। तार्किक कौशल प्रसार के माध्यम के रूप में शिक्षा आधुनिकता का वादा तो अब भी करती है, पर इस शर्त पर कि टिकाऊ सुरक्षा उपलब्ध होगी। आज कई लोगों के लिए शिक्षा गहन स्पर्धा व अत्यधिक असुरक्षित वैश्विक परिस्थिति से निपटने का एक निराश उपाय बन चुकी है।

नूतन रुझान

ठीक यही विचार शिक्षा के संदर्भ में गुणवत्ता को परिभाषित तथा लागू करने के कई मौजूदा प्रयासों का केन्द्र है। छात्र-उपलब्धियों के अन्तर्देशीय तुलनात्मक अध्ययन नई घटना नहीं हैं, परन्तु ऐसे प्रयासों का उद्देश्य अकादमिक से बदलकर व्यवहारिक हो गया है। इस प्रकार का फिलहाल किया जा रहा एक अति-महत्वाकांक्षी प्रयास है अंतर्राष्ट्रीय छात्र-आकलन कार्यक्रम (पीसा) जो 1997 में ओईसीडी द्वारा सदस्य देशों तथा कुछ अन्य देशों में, साझी, नीतिगत रुचियों के आधार पर प्रारंभ किया गया था। इस कार्यक्रम के अध्ययनों का लक्ष्य राष्ट्रीय नीति-निर्माताओं को अपनी शिक्षा व्यवस्था के प्रदर्शन की तुलना दूसरे देशों से करने में सक्षम बनाना है। पीसा अध्ययन का यह स्पष्ट व्यावहारिक अभिमुखीकरण उसे शैक्षिक उपलब्धियों के आकलन के लिए अंतर्राष्ट्रीय संघ के पहले के एवं चल रहे कार्यों से भिन्न बनाता है। ऊपर वैश्वीकरण तथा विभिन्न देशों के बीच उससे जुड़ी वित्तीय स्पर्धा की जो चर्चा की गई है, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही यह व्यावहारिक अभिमुखीकरण आया है। पीसा ने जो ढांचा अपनाया, उसमें 'गुणवत्ता' की परिभाषा, पंद्रह वर्ष की आयु में छात्र की अकादमिक उपलब्धि तथा वे घटक भी शामिल हैं जो उसके प्राप्तियों का स्पष्टीकरण देते हैं। आकलन तीन व्यापक पाठ्यक्रम क्षेत्रों पर ध्यान देता है: पठन, गणित तथा विज्ञान। परन्तु समस्या समाधान कौशल, जिनका उद्भव व उपयोग सभी अनुशासनों में होता है, उन्हें भी समेटा गया है तथा छात्र की पृष्ठभूमि व घरेलू वातावरण पर भी कुछ ध्यान दिया जाता है।

'गुणवत्ता' राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के नेटवर्क के रूप में 1994 में स्थापित लैटिन अमेरिकन लैबोरेटरी का भी सरोकार है। इसके द्वारा अब तक का जो सबसे बड़ा अध्ययन किया गया, उसमें लैटिन अमेरिका तथा कैरीबियन की प्राथमिक शालाओं में कक्षा 3 व 4 के बच्चे शामिल थे। इस अध्ययन में, छात्रों के घर-संबंधी घटकों तथा शिक्षाशास्त्रीय प्रक्रियाओं पर भी ध्यान दिया गया। अध्ययन का उद्देश्य था 'आदर्श' शाला की अवधारणा बनाने का प्रयास करना, जिसके लिए शिक्षा व्यवस्था तथा आय के प्रति शिक्षकों का दृष्टिकोण, स्कूली मामलों में पालकों का जुड़ाव तथा कक्षा के माहौल आदि का विश्लेषण किया

गया। यों लैटिन अमेरिकन लैबोरेटरी ने गुणवत्ता का अधिक व्यापक अर्थ लिया तथा उसे केवल परिणामों या छात्र-प्रदर्शन तक सीमित न रख, स्कूली वातावरण में परिलक्षित मूल्यों को भी कुछ हद तक समेटा। पीसा तथा लैटिन अमेरिकन लैबोरेटरी के अध्ययनों को एक साथ रखने पर हम गुणवत्ता को एक ऐसे चारित्रिक गुण के रूप में देखने को प्रोत्साहित होते हैं जो विद्यार्थियों में शिक्षा व्यवस्था के उत्पाद के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। आईईए अध्ययनों ने पूर्व में जो मानदण्ड विकसित किए थे, उनमें कुछ और मानदण्ड ये अध्ययन जोड़ते हैं। नया पैरा आईईए के नवीनतम सरोकारों में एक है नागरिक शिक्षा में बच्चों की उपलब्धि का आकलन। संस्कृति-संवेदनशीलता का मुद्दा फ्रेंच भाषी अफ्रीकी देशों में प्राथमिक स्तर पर भाषा-परीक्षण के संदर्भ में, एक उत्तर-जोमितयन प्रयास के तहत उठा। गुणवत्ता के उत्तर-जोमितयन विमर्श में सरकार द्वारा किए गए पहुंच संबंधी दावों की गहनता नापने के लिए गुणवत्ता का उपयोग एक मानदण्ड के रूप में किया गया। ब्लूम एवं कोहेन दावा करते हैं कि 'कई इलाकों में आधिकारिक आंकड़े बुनियादी त्रुटियों को छिपाते हैं और... शिक्षा की गुणवत्ता के विषय में बहुत कम उजागर करते हैं।' स्कूल की प्रभावोत्पादकता तथा शिक्षा के समग्र ढांचे को गुणवत्ता के मापे जा सकने वाले परिणामों के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया है (उदाहरण के लिए, हैनेवेल्ड एवं क्रेग, 1996; धनकर एवं स्मिथ, 2002)। गुणवत्ता का ऐसा उपयोग अक्सर एक नैतिक ध्वनि अख्तियार करता है तथा हमें स्मरण दिलाता है कि पहुंच में जो विस्तार हुआ है, उसका मतलब हाशिए पर धकेले गए तथा दलित वर्गों के बच्चों से खासकर बालिकाओं, से है। उन्हें शिक्षित कर पाने की शिक्षा-व्यवस्था की क्षमता अपनाई गई नई रणनीतियों पर निर्भर है। कई रिपोर्टों में इस संयोग को 'समावेशन' के रूप में देखा गया है- यह जुमला सीधे-सीधे व्यवस्था के पुनर्गठन की जिम्मेदारी का सुझाव भी देता है, जो अब तक आर्थिक के साथ सांस्कृतिक अर्थ में भी बहिष्कार/असमावेशन का औजार बनी रही है।

व्यवस्था की समावेशन क्षमता के साथ गुणवत्ता को जोड़ना तब और भी अधिक प्रासंगिक बन जाता है, जब हम निजीकरण की समान्तर वृद्धि पर ध्यान देते हैं। कई विकासशील तथा विकसित देशों में 1980 के दशक के प्रारंभिक वर्षों से जो नीतियां अपनाई गई हैं, वे सभी स्तरों पर शिक्षा के निजीकरण को प्रोत्साहित करती रही हैं। निजी संस्थाएं इस लोकप्रिय मान्यता के तहत फलती-फूलती हैं कि जो सरकारी नियंत्रण में नहीं है, उसमें कुछ गुणवत्ता अवश्य होगी। इस मान्यता की लोकप्रियता व शक्ति का अंदाज अल्पसंख्यकों के अधिकारों संबंधी एक महत्वपूर्ण मामले में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले से लगाया जा सकता है, जिसमें इसकी पुष्टि की गई थी।

अफसोस यह है कि हमारे पास ऐसे कोई अध्ययन नहीं हैं जो सरकारी तथा निजी प्रबंधन के तहत चल रही शालाओं की तुलना ढांचे, प्रदर्शन, शिक्षकों की क्षमताएं तथा पालकों के जुड़ाव जैसे मसलों की गुणवत्ता के आधार पर करते हों। यह आश्चर्यजनक है, खासकर इस दृष्टि से कि इस संभावना के प्रति सभी सजग हैं कि भारत के कई भागों में गैर-अनुमोदित निजी स्कूल ग्रामीण समाज के तुलनात्मक रूप से बेहतर तबकों के बच्चों, खासकर लड़कों को बहा लेते हैं (अग्रवाल 2000)।

सैद्धान्तिक सतर्कता

ताजा अध्ययनों की यह संक्षिप्त चर्चा सुझाती है कि वैश्वीकरण-अपनी तमाम उलटबासियों, विरोधाभासों तथा असुरक्षाओं के साथ-हमें एक दुर्ग्राह्य अवधारणा को संबोधित करने का एक कीमती मौका उपलब्ध करवाता है। इस विषय में सोचने की आवश्यकता तो एक अर्से से रही है, परन्तु इसके पहले इस दिशा में हमें धकियाने वाली परिस्थितियां इतनी सार्वजनिक नहीं थीं। शिक्षा की गुणवत्ता को जांचने का लोभ, जैसे मानो किसी कारखाने, किसी होटल या किसी गाड़ी को जांचा जाए; बेहद सशक्त है। न केवल गुणवत्ता का बाजार-विमर्श फिलहाल फैशन में है; बल्कि उस हद तक प्रबल भी है, जिस हद तक वह आधुनिकता की छवियों से संबंधित है। हमारे युग में बाजार की उपमाओं की मौजूदगी इतनी भारी है कि हमें शैक्षिक सुधार में गुणवत्ता-नियंत्रण का उपयोग करते वक्त यह उपमा बरतने की जरूरत है, जिसे टेलर (1987) 'ज्ञानमीमांसीय सतर्कता' कहते हैं। ऐसी सावधानियों के बिना हम परिणाम-परीक्षण का जो असर कक्षा में पढ़ाने तथा पाठ्यचर्या विकास पर पड़ सकता है, उसे नजरअंदाज कर देंगे। शिक्षण को परिणाम-अभिमुख गतिविधि के रूप में देखने पर हम कुछ देशों में दशकों तक पिआजे के ज्ञान-सिद्धान्त से निगमित शिक्षा के निर्मितवादी प्रतिमान को लोकप्रिय बनाने का जो काम हुआ है, उसे जाया कर देंगे।² प्रबंधन-संस्कृति ने पाठ्यचर्या मॉडल के मानवतावादी प्रारूपों को भी कमजोर बनाया तथा आचरणवादी पुनरुत्थान की दिशा में बढ़ाया है।

बात इस दावे को चुनौती देने की उतनी नहीं है कि बाजार आधुनिक वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है- ऐसे दावे का खण्डन करना निरर्थक ही होगा। बात तो गुणवत्ता संबंधी सरोकारों की गुंजाइश को विस्तृत करने की है। ऐसा करने की कोशिश में मालकोवा (1989) उन दुश्चिंताओं की ओर संकेत करती हैं, जो आज के तकनीकतांत्रिक समाज के स्पर्धात्मक वातावरण से उपजती हैं। इस स्थिति में कुछ ऐसे सरोकारों का भी समावेश किया जाना आवश्यक है जिनका निवारण शैक्षिक सुधार के उस तकनीकतांत्रिक प्रतिमान द्वारा नहीं किया जा सकता, जो विज्ञान तथा गणित में बच्चों की उपलब्धियों

पर ध्यान देता हो। इन अन्य सरोकारों का वास्ता बाल्यावस्था, मानसिक स्वास्थ्य तथा शांति के व्यापक संदर्भ से है। उनके द्वारा प्रस्तावित गुणवत्ता की परिभाषा में गुणवत्ता “ज्ञान, कौशलों, आदतों तथा मूल्यों के मानदण्डों की समाज द्वारा निर्धारित प्रणाली है, जिन तक विभिन्न स्कूली स्तरों पर पहुंचना चाहिए” (पृ. 37)।

कुछ ऐसी ही दृष्टि हमें भारतीय दार्शनिक जे.कृष्णमूर्ति से भी मिलती है। शिक्षा तथा विश्व-शांति के विषय में एक संवाद में वे आज की स्पर्धात्मक, बेहद व्यक्ति-केंद्रित तथा राष्ट्रीयतावादी शिक्षा को सभी स्तरों- व्यक्तिगत, सामाजिक तथा वैश्विक- पर शांति के लिए खतरनाक बताते हैं। विकासशील देशों में प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता का विश्लेषण करते समय स्टीफेन्स को जो विरोधाभास नजर आए, उनके चलते उन्होंने यह रेखांकित किया कि शैक्षणिक सुधार की एक महत्वपूर्ण पूर्वशर्त शांति हो सकती है।

अधिकांश विकासशील देशों में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति अच्छी नहीं है। कई देशों में सालों तक लगातार पिछड़ने के बाद एक बार फिर से गरीबी, बाल-कुपोषण और अस्वस्थता बढ़ रहे हैं। यद्यपि इस स्थिति के अनेक पेचीदा कारण हैं, पर उन्हें आच्छादित करता कठोर सत्य यह है कि विकासशील देशों की सरकारें आज अपने कुल वार्षिक व्यय का आधा भाग सैन्य रख-रखाव तथा कर्जे उतारने पर खर्चने की स्थिति में पहुंच चुकी है।

(स्टीफेन्स 1991, पृ. 223)।

अपने आलेख में स्टीफेन्स शिक्षा की गुणवत्ता को निर्णय लेने की गुणवत्ता से जोड़ते हैं। वे बॉल्ज (1968) का, अनुसरण कर हमें स्मरण दिलाते हैं कि शैक्षिक व्यवस्था में लिए जा रहे निर्णय ‘समाज में सत्ता-संबंधों का एक संवेदनशील बैरोमीटर हैं।’

गुणवत्ता की मौजूदा शोध तथा बहसों में शिक्षा के सामाजिक आधार के प्रति इस प्रकार की चेतना की कमी है। वरिष्ठ अमेरिकी शिक्षक सीमोर बी. सैरासन (1998) डिवी द्वारा अमेरिकी मनोवैज्ञानिक संघ को एक शताब्दी पहले दिए गए संबोधन से दो बिन्दु प्रस्तुत करते हैं: पहला, शिक्षा तथा उसकी समस्याओं की अवधारणा सामाजिक विज्ञानों में उभरनी और उन्हीं में अवस्थित होनी चाहिए, अन्यथा शिक्षा की अपर्याप्तताएं समझी ही नहीं जा सकेंगी; तथा दूसरा, शोध तथा सिद्धान्त-निर्माण के फलों से शिक्षकों व अन्य अभ्यासकर्ताओं को अवगत करवाना चाहिए। मानदण्डों के रूप में डिवी के इन बिन्दुओं को लागू करने पर उन भ्रातियों की जड़ें स्पष्ट होंगी, जो हमें गुणवत्ता सुधार संबंधी समसामयिक साहित्य में तथा निराशाजनक वास्तविकता को बदलने के प्रयासों में नजर आती हैं। सैरासन भी आग्रह करते हैं

कि हमें शिक्षा व्यवस्था को विशेषज्ञ हिस्सों में न देखकर समग्रता के साथ एक ऐसे ढांचे के रूप में देखना चाहिए जिसके विभिन्न भाग परस्पर संबंधित हों। डोरे (1976; 1980) ने देर से औद्योगीकृत होने वाले देशों में शिक्षा का जो विश्लेषण किया, उसमें भी ऐसे व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लाभों का प्रमाण प्रस्तुत किया। उन्होंने स्कूल तथा उच्चतर स्तर के संस्थानों की तुलनात्मक भूमिका को आर्थिक विकास तथा रोजगार के आंकड़ों के साथ रख यह मजबूत सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि जब तक योग्यता एकत्रित करने की इच्छा कम नहीं होती, तब तक स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता को सुधारा नहीं जा सकेगा।

गुणवत्ता का ढांचा

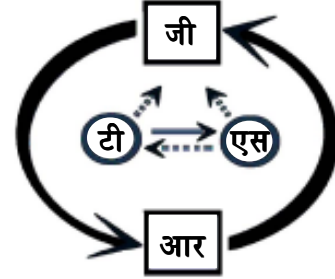
जब हम गुणवत्ता के एक व्यापक ढांचे को विकसित करने का प्रयास करें, हम यह भी याद रखें कि गुणवत्ता का मुद्दा स्वयं शिक्षा जितना ही प्राचीन है। तुलना के उपकरण के रूप में यह उन लोगों को सदा से उपलब्ध रहा है जो शिक्षा देने और उसके उपयोग के तरीकों को लेकर चिंतित रहे हैं। अपनी रचना ‘रिपब्लिक’ में प्लेटो ‘बेहतर व अधिक पूर्ण शिक्षा’ का जुमला काम में ले यह सुझाते हैं कि शिक्षा विभिन्न प्रकार की ही नहीं, वरन विभिन्न गुणवत्ता स्तर वाली भी हो सकती है (हेमिल्टन और कैरन्स : 1961, पृ. 752)। इसी प्रकार बुद्ध के प्रवचन भी ज्ञान के सही चयन का महत्त्व बताते हैं क्योंकि गलत चयन खतरनाक हो सकता है (हान : 1996)। यह विचार हमें बाध्य करता है कि हम शिक्षा में गुणवत्ता की अवधारणा को अपने शैक्षिक ढांचे के लक्ष्यों व पूर्व-मान्यताओं में शामिल करें। पाठ्यचर्या शोध एवं विकास के अपने शास्त्रीय कार्य में स्वर्गीय लौरेन्स स्टेनहाउस ने शिक्षा की केन्द्रीय समस्या संस्कृति से शिक्षा के संबंध को न समझने में अवस्थित की थी। स्टेनहाउस कहते हैं कि हमारे संप्रेषणीय जगत को फैलाने के माध्यम के रूप में शिक्षा व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से मानवीय संबंधों को प्रत्यक्षतः प्रभावित करती है (1995)। शिक्षा हमारी आजादी तथा रचनाशीलता को हमें अपनी तथा औरों की संस्कृति में ले जाकर, एक वैचारिक प्रणाली उपलब्ध करवाकर संवर्धित करती है। स्टेनहाउस स्कूली शिक्षा की तीन प्रक्रियाओं में अंतर करते हैं; ये हैं- प्रशिक्षण, अनुदेशन तथा दीक्षा। स्टेनहाउस कहते हैं, “ज्ञान में दीक्षित करने के रूप में शिक्षा उस हद तक सफल होती है, जिस हद तक वह छात्र के आचरण संबंधी परिणामों को अपूर्वानुमेय बनाती है” (पृ. 82)। स्टेनहाउस यह तर्क करते हैं कि शिक्षा की गुणवत्ता का आकलन करते वक्त जब हम परिणाम-अभिगम अपनाने हैं तो गुणवत्ता का फैसला करने में शिक्षक की भूमिका तथा ऐसा कर पाने की उसकी क्षमता का सही आकलन कमजोर पड़ जाता है। साथ ही तब हम ज्ञान के प्रति एक दृष्टिकोण तथा आवश्यक रूप से महत्त्वहीन

नजरिया अपनाने पर भी बाध्य होते हैं। जिस समय हम लोगों को बदहवासी में गुणवत्ता के संकेतक इकट्ठे करते देख रहे हों, ताकि वे व्यापक स्तर पर उपलब्धि सर्वेक्षण कर सकें, उस समय अगर स्टेनहाउस से दिशा व विचारों संबंधी प्रेरणा लें तो लाभ ही होगा।

शिक्षा तथा वास्तविकता के संबंध के संदर्भ में हमें जो महत्वपूर्ण चयन करना है, वह इन दो धारणाओं में से करना है: (क) क्या शिक्षा वास्तविकता को रूपान्तरित करने का माध्यम है ? या फिर (ख) वह उससे तालमेल बिठाने का माध्यम है ? इस प्रश्न का हमारा उत्तर तय करेगा कि हम शिक्षा को किस प्रकार का कर्तृत्व प्रदान करते हैं। अगर हम उत्तर (ख) चुनते हैं, तो हम शिक्षा को उसके किसी प्रकार के अंतर्निहित मूल्य के संदर्भ में सुधारने की उम्मीद नहीं कर सकते। केवल उत्तर (क) ही हमें ऐसी आस लगाने की अनुमति देता है। इस बाध्यता को मान लेने पर नीचे प्रस्तावित डिजाइन (आकृति-1) शिक्षा के लक्ष्यों तथा किसी शिक्षा प्रणाली की नवाचार द्वारा स्वयं को सुधारने की क्षमता के बीच एक प्रत्यक्ष तथा गत्यात्मक जुड़ाव बनता है। यह डिजाइन दो भिन्न काल क्षितिजों की ओर ध्यान आकर्षित करता है। एक तो दूरकालिक क्षितिज है, जो शिक्षा के लक्ष्यों तथा सुधार के उपायों के निर्माण के लिए एक दृष्टिकोण की मांग करता है। दूसरा तात्कालिक क्षितिज है जो हमें दो मुख्य खिलाड़ियों, शिक्षक तथा छात्र के प्रयासों तथा वृद्धि के प्रदर्शन पर गौर करने की अनुमति देता है। आकृति हमें प्रभाव तथा पुनर्पूर्ति में अंतर करने में भी मदद करती है। शिक्षक-छात्र युग्म में शिक्षक छात्र के विकास को प्रभावित करता है, जबकि छात्र शिक्षक की इस चेतना की पुष्टि करता है कि क्या कारगर है तथा क्या नहीं। यह ध्यान देना जरूरी है कि जी-आर विकास सुधार युग्म, टी-एस (छात्र-शिक्षक) के लिए एक अंतःस्थापित संदर्भ बनाता है; ये दोनों बिन्दुवार रेखा से जुड़े हैं जो शिक्षकों तथा छात्रों की पुनर्पुष्टि की भूमिका का प्रतीक है। एक जीवन्त प्रणाली में शिक्षक व छात्र दोनों ही यह निभा पाते हैं या फिर उसकी परिकल्पना सतत सुधार की गत्यात्मकता में ही की जा सकती है। टी-एस युग्म को जी-आर युग्म के अन्दर रख आकृति-1 शिक्षकों तथा छात्रों को केन्द्रीय महत्त्व देती है। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा प्रणाली को स्वयं को सुधारने की ऊर्जा भी उनसे ही मिलती है। लक्ष्यों, इन लक्ष्यों के चयन में निहित मान्यताएं तथा उनमें प्रतिबिम्बित मूल्य का प्रतिनिधित्व करने वाले जी की परिकल्पना एक सतत उद्घाटित होने वाली वास्तविकता के रूप में की गई है। यह वास्तविकता इस अर्थ में या सुधारों के लिए उपलब्ध करवाई गई ऊर्जा के फलस्वरूप, उद्घाटित होती है। अतः व्यवस्था में आर अथवा सुधारों की मौजूदगी, निर्णय के सभी स्तरों में इस चेतना की उपस्थिति का प्रतिनिधित्व करती है कि प्रणाली को मौजूदा मान्यताओं, मूल्यों तथा अभ्यासों में

बदलाव लाकर सुधार की आवश्यकता है। ये स्तर ऐसी कक्षा से प्रारंभ होते हैं, जहां तात्कालिक निर्णयकर्ता शिक्षक होता है।

चित्र-1



- | | | | |
|-------------|-------------------------------|-------|----------------------|
| जी : | लक्ष्य, मान्यताएं और मूल्य | □ | परिप्रेक्ष्य के विषय |
| आर : | शिक्षार्थी के प्रयास और विकास | ○ | प्रदर्शन के विषय |
| टी : | नवाचार के जरिए सुधार | — | प्रभाव |
| एस : | शिक्षक के प्रयास और विकास | | पुनर्बलन |

उपरोक्त डिजाइन का उपयोग कर अगर हम गुणवत्ता की अपनी समझ को व्यवस्थित करें तो कह सकते हैं कि यद्यपि छात्रों तथा शिक्षकों के एक अर्से के दौरान किए गए प्रयास और उपलब्धियां किसी भी आकलन के अत्यावश्यक घटक हैं, तथापि गुणवत्ता के आकलन के एक समग्र ढांचे में यह भी शामिल होना चाहिए कि प्रणाली में नए अभ्यासों को प्रोत्साहित कर स्वयं को सुधारने की क्षमता है या नहीं। प्रस्तावित डिजाइन का प्रयोग करते समय हमें संदर्भित बारीकियों पर भी ध्यान देना होगा, जैसे किसी व्यवस्था की ऐतिहासिक विरासतें, सामाजिक ढांचे की विशेषताएं तथा स्कूल की रोजमर्रा की वास्तविकता को रचने वाली परिस्थितियां। यह जरूरी है कि बाहरी लक्षण न केवल हमें उन वस्तुओं के प्रति संवेदनशील बनाएं, जो हमें स्कूलों, शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थानों में तथा प्रशासकों के कार्यालयों में नजर आए, बल्कि ये हमें यह भी बताएं कि शिक्षकों तथा छात्रों के विकास या बदलाव का आकलन करते समय हमें किन-किन पर गौर करना चाहिए। यहां बात 'परिणाम' अभिगम की विचारधारा तथा उसके उपकरणों, दोनों से ही दूर होने की है। यहां जिस प्रकार का व्यवस्थात्मक मूल्यांकन प्रस्तावित किया जा रहा है, उसमें अनेक स्तरों के विश्लेषण की आवश्यकता होगी, जो बदलाव की विभिन्न गतियों तथा शैलियों को संबोधित करते हों, जिनकी उम्मीद शिक्षा प्रणाली के महत्वपूर्ण घटकों में हम रख सकते हों।

भारत की सीखें

गुणवत्ता के मुद्दे के अध्ययन में भारत में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जो अनुभव हुए, वे उपयोगी संसाधन हैं। भारत के दृष्टान्त का अध्ययन खासतौर से इसलिए रोचक है क्योंकि उपनिवेशवाद की

भूमिका के विरुद्ध भारत के संघर्ष का चरित्र लोकतांत्रिक था और आजादी के बाद भी यहां लोकतांत्रिक व्यवस्था, भ्रमित करने वाली आंतरिक व बाह्य कठिनाइयों के बावजूद कायम रखी जा सकी। इस संदर्भ में भारत एक अनूठा दार्शनिक संसाधन भी उपलब्ध करवाता है। गांधी के राजनैतिक नेतृत्व तथा टैगोर के बौद्धिक नेतृत्व ने उपनिवेशवाद विरोधी भारतीय संघर्ष तथा विकास की सफलता में महत्वपूर्ण योगदान दिया। गांधी तथा टैगोर दोनों की शैक्षिक बदलाव में गहरी रुचि थी और उन्होंने शैक्षणिक सुधार के उत्तेजक प्रयास प्रारंभ किए। भारत की शिक्षा प्रणाली की चर्चाओं में उसकी प्रजातीय समस्याओं तथा सामाजिक ढांचे से संबंधित विरोधाभासों पर केंद्रित होने की वृत्ति रहती है। यह परिचित रुझान साक्षरता तथा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्रों में भारत की निराशाजनक उपलब्धियों के संदर्भ में, बड़ी आसानी से समझ आता है। भारत की शैक्षिक वास्तविकता का परिचित निरूपण नवाचारी सुधारों में खपाई गई ऊर्जा के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं जगाता। यही कारण है कि हम भारतीय अनुभव की अपनी चर्चा की शुरुआत शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के प्रमुख प्रयासों की दो कथाओं से करेंगे। पहली कथा है बुनियादी शिक्षा (बेसिक एज्युकेशन) कार्यक्रम की जो आजादी के प्रथम दशक में प्रारंभ हुआ तथा दूसरी होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम जो 1970 के दशक में आरंभिक वर्षों में प्रारंभ हुआ तथा हाल में 2002 में बन्द किया गया।

नई तालीम

बुनियादी शिक्षा महात्मा गांधी के नई तालीम के उस प्रस्ताव से प्रेरित थी, जिसकी प्रथम घोषणा 1937 में उपनिवेशवादी शासन से आजादी के एक दशक पूर्व की गई थी। आजादी तथा गांधी की हत्या के बाद सरकारी नीति के रूप में इसे अपनाया गया तथा उसके मूल विचारों को व्यापक स्तर पर जांचने का काम प्रारंभ हुआ। इन विचारों में सबसे महत्वपूर्ण था प्राथमिक शालाओं की केन्द्रीय पाठ्यचर्या में शारीरिक श्रम या किसी उत्पादक शिल्प के प्रत्यक्ष अनुभव को शामिल करना। यह विचार न केवल शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से बल्कि सामाजिक दृष्टि से और भी अधिक क्रांतिकारी था। खासकर इसलिए क्योंकि भारतीय समाज के जाति विभाजित ढांचे में शारीरिक श्रम का तिरस्कार इसलिए वैध माना जाता था क्योंकि उसे नीची व अन्य जातियों के साथ जोड़ा जाता था, जो जातियों के पद सोपान से च्युत कर दी गई थीं। दूसरे महत्वपूर्ण विचारों में विभिन्न विषयों के ज्ञान को हस्तशिल्पों के सीखने के साथ समेकित करना तथा बालक की मातृभाषा को माध्यम के रूप में अपनाया शामिल थे। ये सभी विचार औपनिवेशिक युग में स्थापित पाठ्यचर्या व शिक्षाशास्त्रीय अभ्यासों का खण्डन करते

थे तथा कुछ शिक्षा संबंधी पुरातन सांस्कृतिक विश्वासों से बल पाते थे (कुमार, 1991)।

बुनियादी शिक्षा रटन्त विद्या, शिक्षाशास्त्रीय उपकरण के रूप में पाठ्यपुस्तक के वर्चस्व तथा परीक्षा के नाम पर रटे हुए वाक्यों को बच्चों से उगलवाने के अभ्यासों को चुनौती देती थी। इस प्रयास का कड़ा विरोध न केवल परंपरागत शिक्षा विधि में प्रशिक्षित शिक्षकों ने किया बल्कि राजनीतिज्ञों, अफसरशाही तथा पाठ्यपुस्तक प्रकाशकों ने भी किया। बुनियादी शिक्षा के आलोचकों ने ढांचागत मुद्दे भी रखे जैसे बुनियादी तथा गैर-बुनियादी स्कूलों की सादृश्यता, बुनियादी शिक्षा को माध्यमिक कक्षाओं में फैलाने में परेशानियां, क्योंकि ये कक्षाएं सार्वजनिक परीक्षा अभिमुख थीं, जो रटने तथा लिखने के कौशल को जांचती थीं (भारत सरकार, 1957)। बुनियादी शिक्षा की विशेषता थी प्रान्तीय विविधता, जो उसके दर्शन से पूर्णतः मेल खाती थी, परन्तु भारतीय शिक्षा के योजनाकार गांधी के दर्शन पर तेजी से खण्डित होती आस्था का अनुमान लगाने में असफल रहे। भारत ने 1960 के उथल-पुथल भरे दशक में प्रवेश किया, जिसमें उसने अपने पड़ोसियों के साथ दो युद्धों का, दो वर्षों तक लगातार पड़े सूखे का, दो प्रधानमंत्रियों की मृत्यु (जिनमें से एक को आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है) का सामना किया और उस कांग्रेस पार्टी के ऐतिहासिक विखण्डन को भी देखा, जिसके नेतृत्व में भारत ने आजादी जीती थी।

कोई एक घटक नीति के रूप में बुनियादी शिक्षा के त्याग का कारण नहीं समझा जा सकता। फिर भी इसकी बेहतरीन उपलब्धियां यह रेखांकित करती हैं कि किसी भी शैक्षणिक नवाचार के लिए राजनैतिक तथा विचारधारा का समर्थन महत्वपूर्ण होता है। गुणवत्ता तथा प्रतिबद्धता के अर्थ में बुनियादी शिक्षा के क्रियान्वयन में काफी भेद था। इस क्रियान्वयन का एक महत्वपूर्ण घटक था स्वैच्छिक अथवा गैर-सरकारी संस्थाओं का योगदान (पटेल एवं साइक्स, 1988)। बुनियादी शिक्षा ने पाठ्यचर्या विकास तथा शिक्षक-प्रशिक्षण में ताजी सोच को जन्म दिया; यद्यपि 'बुनियादी शिक्षा' में प्रशिक्षित अच्छे शिक्षकों का अभाव एक सतत समस्या बनी रही। कई प्रांतों तथा संस्थाओं ने सामान्य स्कूल की पुरानी व्यवस्था में संध लगाई तथा बौद्धिक तथा शारीरिक काम के बीच के फासले को पाटने की चुनौती पर ध्यान दिया गया। यह अहसास कि किसी चीज को बनाने या करने का प्रत्यक्ष अनुभव बालक के जीवन के एकाधिक विकास संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति करता है, उस समाज के लिए क्रांतिकारी संभावनाएं लिए था जो आदतन शारीरिक श्रम को उच्च-जातीय तिरस्कार के साथ देखता था। यह दृष्टिकोण में बदलाव लाने का गांधी का सूक्ष्म फार्मूला था। इसने तब तक काम किया जब तक इसके कार्यान्वयन के लिए अनुकूल माहौल

उसे उपलब्ध हो सके। ऐसा माहौल आजादी के बाद के दशक में भारत के कई भागों में मौजूद था। जाहिर था कि यह गांधी के नेतृत्व में हुए स्वतंत्रता संघर्ष के समय बने अधिक उत्तेजक माहौल का अवशेष था। व्यापक संदेह व विरोध के समक्ष वैचारिक समर्थन दे गांधी की धरोहर को जीवित रखने की नैतिक जिम्मेदारी का अहसास सरकार को भी था। 1960 के दशक के मध्य में जब सरकार के सकारात्मक पूर्वाग्रह का स्थान कृषि उत्पादन में मशीनी आधुनिकीकरण के दबाव ने ले लिया, तो बुनियादी शिक्षा के प्रति उत्साह भी सूख चला (कुमार, 1995)। बुनियादी शिक्षा की स्मृति में 'कार्य अनुभव' का एक खांचा पुरानी तर्ज के, पाठ्यपुस्तक आधारित पाठ्यचर्या में माध्यमिक कक्षाओं के लिए तराशा गया। प्रत्यक्ष अनुभव देने की जिम्मेदारी हटने से प्राथमिक स्कूल पहले जैसी स्थिति में लौट गए।

बाल वैज्ञानिक

नवाचार की हमारी दूसरी कथा, होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) 1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में दो स्वैच्छिक संस्थाओं किशोर भारती तथा फ्रेन्ड्स रूरल सेन्टर द्वारा प्रारंभ किया गया। बाद में यह जिम्मेदारी एकलव्य की बनी। भारत में स्वैच्छिक कार्य की सुस्थापित परंपरा ने बिरले ही सरकारी स्कूलों में दखलंदाजी की है। स्थितियां अब बदल रही हैं, परन्तु परंपरागत रूप से स्वैच्छिक संस्थाएं सरकारी प्रणाली के प्रति उदासीन रही हैं। होविशिका आजादी के बाद का अकेला दृष्टान्त है, जहां एक स्वैच्छिक पहल ने सरकारी स्कूलों में क्रांतिकारी व व्यापक हस्तक्षेप किया। इस हस्तक्षेप का विस्तार शुरुआत में काफी सीमित था : मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के आठ ग्रामीण माध्यमिक स्कूल (कक्षा 6 से 8 तक के जिसमें करीब 11 से 13 वर्ष के बच्चे अध्ययनरत थे)। पर यह संख्या तेजी से बढ़ी व 1970 के बाद एक दशक में आस-पास के कई इलाकों के 1000 स्कूलों के आंकड़े तक पहुंच गई। होविशिका के तीन आयाम थे :

1. किट के साथ प्रयोग आधारित पाठ्यपुस्तकें तैयार करना जिनके विषय तथा उपकरणों व पाठों का डिजाइन भी तात्कालिक ग्रामीण परिवेश के अनुकूल हो।
2. सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को नई विधियों में प्रशिक्षित करना, जो स्वयं बच्चों द्वारा खोजे गए विचारों, स्पष्टीकरणों तथा नए प्रश्नों पर ध्यान केन्द्रित करते हों। अर्थात् जो पुरानी शिक्षा विधि को लगभग वर्जित करते हों, जिसमें बच्चों को स्वयं करके अनुभव किए बिना ही पढ़ाया जाता था।
3. नई मूल्यांकन विधियां बनाना, जो वर्षान्त पर आयोजित याददाश्त

आधारित परीक्षाओं का स्थान तो ले लें।

(दिल्ली विश्वविद्यालय विज्ञान शिक्षण समूह व अन्य, 1977)

इस कार्यक्रम की मुख्य चुनौती थी सरकार के साथ तालमेल। होविशिका ने भारतीय शिक्षा इतिहास के इस अनूठे प्रयास में न केवल बेहतरीन संपर्क प्रबंधन के कारण सफलता पाई, बल्कि इसलिए भी क्योंकि कार्यक्रम की वैधता भारत के कुछ श्रेष्ठतम विज्ञान एवं तकनीकी उच्च शिक्षण संस्थाओं की प्रतिष्ठा से भी जुड़ी थी। निर्णय लेने तथा क्रियान्वयन के सभी पक्षों में होविशिका को टाटा इन्स्टिट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, इन्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ टैक्नॉलजी तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिक तथा रसायनशास्त्र विभाग के शिक्षकों का सहयोग मिला। इसके अलावा मध्य प्रदेश के कुछ कॉलेजों व विश्वविद्यालयों के कुछ शिक्षक व्यक्तिगत रूप से इसमें जुड़े। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) की सहायता से जो संस्थागत सहयोग की व्यवस्था की जा सकी, वह भी अनन्य थी। यह उस स्वप्न के साकार होने-सा था, जो भारत में शैक्षिक सुधारों के सबसे महत्वाकांक्षी दस्तावेज कोठारी आयोग 1964-66 के प्रतिवेदन में कल्पित किया गया था। इस दस्तावेज का शीर्षक था 'शिक्षा एवं राष्ट्रीय विकास (एनसीईआरटी, 1971)। होविशिका ने यह प्रदर्शित किया कि विश्वविद्यालय शिक्षक तथा स्कूली शिक्षक बच्चों के कक्षा अनुभवों की गुणवत्ता को सुधारने के लिए साथ-साथ काम कर सकते थे।

जिन नवाचारत्मक प्रयासों का हमने संक्षिप्त अध्ययन किया, उनकी तीन मोटी सीखों को हम पहचान सकते हैं; एक, किसी भी नवाचार प्रयास को टिकाऊ बनाने में सामाजिक-राजनैतिक माहौल की भूमिका निर्णायक होती है; दो, स्कूली शिक्षा को सुधारने में उच्च शिक्षण संस्थान प्रमुख भूमिका निभा सकते हैं; और तीन, स्वैच्छिक या गैर-सरकारी संस्थाएं नए विचारों तथा विधियों के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। नवाचार की ये दोनों कहानियां स्मरण दिलाती हैं कि 'व्यवस्था' या यथास्थितिवाद किस कदर मजबूत चुनौती प्रस्तुत कर सकता है। बुनियादी शिक्षा और होविशिका का लक्ष्य था स्कूली शिक्षण के सामाजिक चरित्र को बदलना ताकि ग्रामीण बच्चों को उपलब्ध शिक्षा की गुणवत्ता को भी सुधारा जा सके। जाति, वर्ग तथा लिंग संबंधी सामाजिक बाधाएं लम्बे समय से ग्रामीण भारत में शिक्षा की प्रगति को बाधित करते रहे हैं। ये बाधाएं पेचीदा तरीके से काम करती हैं तथा पाठ्यचर्या नीति के साथ स्कूल के रोजमर्रा के जीवन को भी प्रभावित करती हैं। बुनियादी शिक्षा तथा होविशिका ने इन नकारात्मक शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया को लांघने का प्रयास किया, एक ने नई पाठ्यचर्या को गांधी के क्रांतिकारी नजरिए में अवस्थित कर तथा दूसरे ने यह आग्रह कर कि विज्ञान की ज्ञानमीमांसा की सैद्धांतिक समझ को स्कूली विज्ञान शिक्षणों को निर्देशित करना चाहिए (सद्गोपाल, 1981)।

व्यापक छवि

भारत जैसे विशाल तथा पेचीदा देश में परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने में दो संक्षिप्त वृत्तान्त अध्ययन पर्याप्त नहीं हैं। एक विशाल व्यवस्था को सुधारने के कार्य की व्यापकता को समझने में हमें सावधानी बरतनी होगी व तैयार भी रहना होगा ताकि हम उस अगम्य लक्ष्य को पाने के लिए उसे अधिक सक्षम बना सकें। यह लक्ष्य भारत के संविधान में एक उदारवादी समाज के निर्माण, जो लोकतंत्र तथा सामाजिक न्याय पर आधारित हो, के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। संविधान ने शासन की एक परिवर्तनकारी दृष्टि प्रस्तुत की तथा शिक्षा को उसे साकार करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बताया। इस दृष्टि को साकार रूप देने में साक्षरता तथा प्रारंभिक शिक्षा को सार्वजनीन बनाने का दायित्व भी अपरिहार्य ही था। जब बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की समीक्षा भारतीय संविधान के नजरिए से करते हैं, तो हम उन असाधारण, चुनौतियों को पहचानने पर भी बाध्य होते हैं, जिनका सामना लोकतंत्र को करना पड़ा है। पर लोकतंत्र की सेवा करने तथा उसे सुदृढ़ बनाने के माध्यम के रूप में शिक्षा ने जो दुर्जेय कठिनाइयां सरकार के समक्ष प्रस्तुत की हैं वे भी हमें झकझोरती हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भारत के प्रदर्शन की विहंगम दृष्टि पाने की कोई भी चेष्टा हमारे विवेक को प्रभावित करने वाले घटकों के वैविध्य से बाधित होती है। 1970 के दशक के मध्य में जे.पी.नायक ने, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, ऐसी विहंगम दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयास किया। ऐसी चेष्टा करने के लिए वे किसी भी अन्य व्यक्ति से बेहतर योग्यता रखते थे, कारण कि उन्होंने निर्णय लेने में प्रमुख भागीदारी की थी तथा उनका दृष्टिकोण सामाजिक कटिबद्धता से ओत-प्रोत था (कामट, 1994)। आजादी के उपरान्त प्रथम पच्चीस वर्षों में भारत के शैक्षणिक प्रदर्शन का उनका आकलन था :

गुणवत्ता की तलाश ने अक्सर स्वयं को विशेषाधिकार के साथ जोड़ा है और संख्या शत्रुता मोल ली है; इधर संख्या की तलाश अक्सर मानकों के हास की ओर ले गई है तथा समानता की खोज में यह पाया गया है कि अक्सर गुणवत्ता से उसका वैर है। साथ ही, उसके आड़े समाज की वे ही असमानताएं आती हैं जिन्हें उसे हटाना था। इन अपरिहार्य संघर्षों को सलटाने की हमने चेष्टा की है, परन्तु नतीजे नहीं मिल पाए हैं...

क्या शिक्षा में समानता, गुणवत्ता तथा संख्या के लक्ष्यों को पाने के प्रयास ने समाज की संरचना को प्रभावित किया है, उसे कम श्रेणीबद्ध कर्म पदक्रम वाला या अधिक समतापूर्ण बनाया है ? उत्तर संभवतः यह है

सामाजिक संरचना के बुनियादी लक्षणों पर शिक्षा का प्रभाव सीमित हो रहा है।

(नाइक, 1975, पृ. 4)

यह प्रश्न कि क्या शिक्षा ने सामाजिक व्यवस्था तथा मूल्यों तथा उसमें निहित मूल्यों को रूपान्तरित करने की भूमिका निभाई है, परन्तु इसका उत्तर दुर्बोध व अस्पष्ट ही रहा है।

1980 के दशक के मध्य में सरकार ने 'शिक्षा की चुनौती' नामक दस्तावेज का विमोचन कर शिक्षा पर एक राष्ट्रीय बहस का आगाज किया। इस दस्तावेज (भारत सरकार, 1985) ने शिक्षा व्यवस्था के प्रसार तथा गुणवत्ता, दोनों ही अर्थों में प्रारंभिक शिक्षा में सड़न की छवि प्रस्तुत की। नामांकन वृद्धि में आई कमी को खराब गुणवत्ता का नतीजा माना जाता है तथा इन दोनों ही प्रवृत्तियों की चर्चा गरीबों तथा कुलीनों के बीच लगातार बढ़ते आर्थिक व सामाजिक फासले के संदर्भ में की जाती है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (भारत सरकार, 1986) ने, बच्चों के स्कूल में बनाए रखने तथा गुणवत्ता सुधारने के कदम उठाने का वादा किया, जिनमें स्कूली सुविधाओं को बेहतर बनाने तथा बाल केन्द्रित विधियां भी शामिल थीं। यह नीति राजनीतिक व सांस्कृतिक दुश्चिन्ताओं का सामना करने के बावजूद बची रही तथा इसका क्रियान्वयन भी जारी है। परन्तु जिन व्यवस्थाओं के माध्यम से प्रणाली कार्य करती है, उनमें महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। 1990 के दशक के प्रारंभ में नव-चयनित केंद्रीय सरकार ने भारी वित्तीय संकट से निपटने के लिए ढांचागत परिवर्तन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) तथा सामाजिक सुरक्षा जाल की नीतियों को स्वीकारा, जिससे प्रारंभिक शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने तथा उसके प्रसार को सार्वजनीन बनाने के लिए बाह्य वित्तीय संसाधन- ऋण तथा अनुदान दोनों ही उपलब्ध हो सके। नए अभिगम तथा कार्य-पद्धतियां, तेज रफ्तार चरणों में विकसित की गईं। इसमें प्रबंधन का विकेंद्रीकरण नियोजन, निर्णय लेने तथा निगहबानी के लिए स्थानीय स्तर के ढांचों का निर्माण किया गया और गैर-सरकारी संस्थाओं को जोड़ा गया। स्कूली भवनों को सुधारने, पाठ्यचर्या को पुनर्व्यवस्थित करने तथा स्थानीय स्तर पर शिक्षकों को भर्ती व शिक्षित करने का व्यापक अभियान छेड़ा गया।

नई वास्तविकता

इन रणनीतियों के परिणाम अब तक पूर्णतः समझे नहीं जा सके हैं और उनमें से कई पर अब भी वाद-विवाद हो रहा है, जबकि दूसरी ओर बाहरी सहयोग से प्रारंभ किए गए जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी) के पहले चरण में जो लाभ हुए, उन्हें सुरक्षित रखने के

प्रयास भी जारी हैं। पैरा-टीचर जैसे उपायों ने कई राज्यों को वित्तीय संकट के काल में भी स्कूलों (या वैकल्पिक ढांचों) की संख्या बढ़ाने की अनुमति दी। अर्ध-शिक्षक स्थानीय स्तर पर चुने जाते हैं, उनका प्रशिक्षण अल्पकालिक होता है तथा नौकरी अनिश्चित। भारत में स्कूलों में पढ़ाना एक कम प्रतिष्ठावान पेशा माना जाता है (भारत सरकार, 1985, कुमार, 1991); यह प्रतिष्ठा अब और भी नीचे गिरी है। अर्ध-शिक्षकों तथा समुदाय द्वारा निगहबानी जैसी व्यवस्थाओं पर अधिक चर्चा तथा शोध की आवश्यकता है। पाठ्यचर्या संबंधी बहस में एक ऐसी विचारधारा उभरी है जो धार्मिक-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का पक्ष लेती है। इस घटना की भी गुणवत्ता संबंधी चर्चाओं में उपेक्षा ही की गई है जो मुख्यतः डीपीईपी से संबंधित नई व्यवस्थाओं में शिक्षार्थियों की उपलब्धियों पर ध्यान केंद्रित करती रही है। जहां तक सरकार का प्रश्न है, उसने इन व्यवस्थाओं की वैधता हालिया संविधान संशोधन का लाभ उठा स्वीकार ली है। यह संशोधन 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों को स्कूल अथवा उसके विकल्प के माध्यम से शिक्षा पाने का मौलिक अधिकार प्रदान करता है। वैसे भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में पहले ही अनौपचारिक शिक्षा को औपचारिक शिक्षा के समान दर्जा देकर उसे प्रारंभिक शिक्षा को सार्विक बनाने का एक वैध उपकरण मान लिया था।

परंपरागत रूप से भारतीय शिक्षा प्रणाली सार्वजनिक या केंद्रीकृत परीक्षाओं पर निर्भर रही है जिनके माध्यम से शिक्षार्थियों का मूल्यांकन तथा कौन आगे बढ़े का चयन किया जाता है। दसवीं तथा बारहवीं कक्षाओं की परीक्षाओं में असफलता दर बेहद ऊंची है और इसे उनकी कठिनाई तथा गुणवत्ता का लक्षण माना जाता है। इन परीक्षाओं का राष्ट्रीय सफलता औसत दसवीं के लिए 50 प्रतिशत से कम तथा बारहवीं के लिए 60 प्रतिशत से कम रहती है। कई राज्यों में बच्चे

पांचवीं तथा आठवीं कक्षा के स्तर पर भी जिला स्तरीय केंद्रीकृत परीक्षाएं देते हैं, पर इनके नतीजों के राष्ट्रीय स्तर के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। 1990 के दशक की एक महत्वपूर्ण विशेषता है डीपीईपी के सौजन्य से बालकों की सीखने की उपलब्धियों को बड़े पैमाने पर सर्वेक्षण। अधिकांशतः, ये सर्वेक्षण सभी विषयों के एमएलएल या न्यूनतम उपलब्धि स्तरों संबंधी दस्तावेज एनसीईआरटी, 1990 के अनुरूप किए गए थे। यह न्यूनतावादी विचार काफी हद तक जवाबदेही की मांग के अनुरूप तथा उसकी प्रतिक्रिया में है, जो बाहरी अनुदान से चल रही परियोजना में हालिया वर्षों में रखी गई। ऐसी मांग ने शिक्षक-प्रशिक्षण तथा पाठ्यपुस्तकों जैसी शैक्षणिक सामग्रियों की तैयारी में परिणाम-अभिमुख अभिगम को प्रोत्साहित किया। अधिकांश भारतीय स्कूलों की प्रारंभिक परिस्थितियों में ऐसा-अभिगम ईमानदारी के साहस की कीमत पर उपस्थिति आंकड़ों व परीक्षाओं के प्राप्तियों को प्राथमिकता देता है।

तालिका-1 : कक्षा 1 से 5 तक की ड्रॉप-आउट दरें

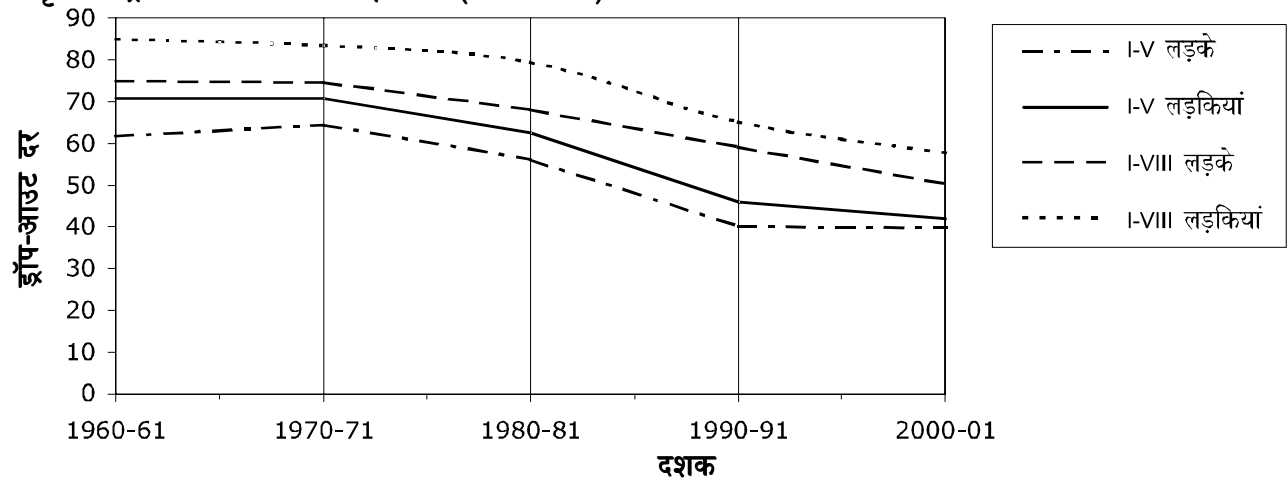
	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	2000-01*
लड़के	61.7	64.35	56.2	40.1	39.7
लड़कियाँ	70.9	70.9	62.5	46.0	41.9
कुल	64.9	67.0	58.7	42.6	40.7

तालिका-2 : कक्षा 1 से 8 तक की ड्रॉप-आउट दरें

	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	2000-01*
लड़के	75.0	74.6	68.0	59.1	50.3
लड़कियाँ	85.0	83.4	79.4	65.1	57.7
कुल	78.3	77.9	72.7	60.9	53.7

स्रोत- सलेक्टेड एज्युकेशनल स्टेटिस्टिक्स (2000-2001) नियोजन प्रबोधन एवं सांख्यिकीय विभाग, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास विभाग, भारत सरकार, 2002

आकृति-2 ड्रॉप-आउट दरों में आई कमी (1960-2000) :



उपस्थिति तथा गरीबी

नामांकन तथा स्कूल में बने रहने के आंकड़े ही प्रारंभिक शिक्षा प्रणाली की कार्यकुशलता का फैसला करने के एकमात्र विश्वसनीय आंकड़े हैं। 1980 के प्रारंभ से हुई प्रगति के बावजूद वृहत्तर परिदृश्य काफी निराशाजनक तथा अस्पष्ट बना हुआ है। तालिका-1 प्राथमिक वर्षों में राष्ट्रीय ड्रॉप-आउट दरों की छवि प्रस्तुत करती है तथा तालिका-2 से 8 के बीच स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों के प्रतिशत प्रस्तुत करती है। इन तालिकाओं के आधार पर कुछ रोचक अवलोकन टिप्पणियां की जा सकती हैं। एक टिप्पणी तो यह की जा सकती है कि नवें दशक की तुलना में आठवें दशक में अधिक प्रगति हुई थी। इसे सामान्य आर्थिक नीतियों, खासकर जो सीधे गरीबी उन्मूलन से जुड़ी थीं, के प्राथमिक शिक्षा पर पड़े प्रभाव का संकेतक माना जा सकता है। नवें दशक का समय गरीबों के लिए अधिक कठिनाइयों से भरा था, जो अर्थ-व्यवस्था की नव-उदारवादी दिशा से हाशिए पर धकेले गए थे (पटनायक एवं वासुदेवन, 2003)। ड्रॉपआउट दरों में आई कमी में यह अन्तर बालिकाओं के संदर्भ में और भी अधिक चौंकाने वाला है। लड़कों और लड़कियों को साथ मिलाने पर जो कुल कमी नजर आती है, उसमें बेशक ठहराव आया है। विश्व बैंक के लिए डीपीईपी का एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन अग्रवाल (2000) ने किया था। यह अध्ययन इन प्रश्नों पर चिंतन करता है तथा भावी शोध की माकूल दिशा का संकेत भी देता है। अग्रवाल कहते हैं :

भारत में औपचारिक शिक्षा प्रणाली रूपान्तरण के महत्त्वपूर्ण दौर से गुजर रही है, खासकर डीपीईपी जिलों में। पहुंच को सुधारने के कई नवाचारी मॉडल विभिन्न जिलों में लागू किए गए हैं। प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्य के प्रति अधिक कटिबद्धता के बावजूद विगत तीन/चार वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर नामांकन में ठहराव के लक्षण नजर आने लगे हैं...

इस चरण में एक प्रासंगिक प्रश्न है कि आखिर बच्चे जा कहां रहे हैं ? क्या वे किसी और तरह के स्कूलों में जा रहे हैं या फिर वे स्कूल से ही दूर हो रहे हैं जैसा कुछ उप सहारा अफ्रीकी देशों में आठवें दशक में हुआ था... इन प्रवृत्तियों की गंभीरता तथा प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण पर उनके प्रभाव को देखते हुए शीघ्रताशीघ्र विशेष अध्ययन आयोजित करवाने की आवश्यकता है।

(अग्रवाल, 2000, पृ. 54-56)।

सीखने की उपलब्धियों के हालिया सर्वेक्षणों पर नजर डालने पर हम पहली दो कक्षाओं में सुधार देख पाते हैं, उच्चतर प्राथमिक कक्षाओं

में ऐसा कर पाना अधिक कठिन सिद्ध हुआ है (गौतम 2003)। लैक्लेर्क (2003) का महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रणाली की खामियों तथा दावों और वास्तविकता के बीच अंतर की सूक्ष्म छवि प्रस्तुत करता है। लगता है कि प्रणाली को विस्तृत करने के लिए भारी संख्या में जो अर्ध-शिक्षक नियुक्त किए गए, वे पहली दो कक्षाओं में ही कारगर हो सके हैं। अब ग्रामीण इलाकों में भी शिक्षा तक पहुंच की मांग बढ़ी है (प्रोब, 1999)। साथ ही गुणवत्ता की भी जैसा कि ग्रामीण बच्चों तथा शहरों व कस्बों में आई निजी स्कूलों की बाढ़ से अंदाज लगाया जा सकता है। यद्यपि इसका व्यवस्थित अध्ययन हाल ही में प्रारंभ हुआ है (जी किंगडन, 1996), सभी स्तरों पर निजीकरण ने समानता को गुणवत्ता के साथ समाकलित करने के सवाल में फिर से कुछ रुचि जगाई है। विख्यात समाजशास्त्री आंद्रे बेतलर्ड (2001; पृ 3625) का विश्वास तो यह है कि 'जब प्रारंभिक शिक्षा सार्वजनीन हो जाएगी, तब भी समाज के विभिन्न तबकों के बच्चों को जो उपलब्ध होगा, उसकी गुणवत्ता में असमानताएं बरकरार रहेंगी। प्रारंभिक शिक्षा के स्तर पर भी सार्वजनीनता का अर्थ समानता नहीं है।'

ढांचागत बाधाओं को फिर से जांचने की जरूरत महसूस की जा रही है और कम से कम एक अध्ययन, जो झा एवं झिंगरन ने (2002) में किया था, ग्रामीण स्कूलों में बच्चों की उपलब्धियों पर किया गया है। यह अध्ययन स्पष्ट रूप से कहता है कि 'गुणवत्ता की पूर्व-शर्तों' को पूरा करने की तत्काल आवश्यकता है। अर्थात् गरीबी से जुड़े मसले जैसे भूख, कुपोषण तथा स्थाई आय आदि पर ध्यान दिया जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बनाए गए दबाव के चलते कई राज्यों में दोपहरी का भोजन उपलब्ध करवाने की स्कूल की जिम्मेदारी पर आज ध्यान दिया जाने लगा है। परन्तु ट्रेज व अन्य द्वारा किया गया सर्वेक्षण साफ दर्शाता है कि टिकाऊ प्रगति में काफी समय लग सकता है। बाल्यावस्था देखभाल जैसे संबंधित मुद्दे जो डकार ढांचे का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था- गरीबी से जनित परिस्थितियां जैसे बालश्रम तथा स्कूल से बच्चों को निकालना, पर हाल के नीतिगत दस्तावेजों में स्वाल्प ध्यान दिया गया है, जो गुणवत्ता को स्कूली सुविधाओं, पाठ्यचर्या तथा शिक्षाशास्त्र के अर्थों में ही परिभाषित करते हैं।

(भारत सरकार, 2003)

निष्कर्ष

गत आधी शताब्दी में भारत के अनुभव की तीन मुख्य सीखें हैं। पहली तो नवाचारी अभ्यासों को मुख्यधारा में लेने की चुनौती। जिन दो प्रयोगों की इस आलेख में पहले चर्चा की गई थी, वे प्रणाली में स्वयं को सुधारने की संभावना की याद दिलाते हैं। ये परियोजनाएं

यह भी रेखांकित करती हैं कि किसी भी गुणवत्ता सुधार कार्यक्रम में दिशा-निर्देशन के लिए लक्ष्यों तथा मान्यताओं की स्पष्टता महत्त्वपूर्ण है। जाहिर है कि नवाचारों से नीति के स्तर पर सीख लेने तथा नए विचारों व अभ्यासों को मुख्यधारा में जोड़ने की उपेक्षा हुई है। दूसरी सीख यह है कि गुणवत्ता के मसले को शिक्षा के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ से काटकर अकेले नहीं देखा जा सकता है। शिक्षा को सुधारने का कोई भी प्रयास, चाहे वह विकसित अथवा विकासशील समाज में किया जा रहा हो, अंततः आधुनिकता के हमारे दृष्टिकोण को संबोधित करता है। विशेषकर इस मसलों के लिए कि इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत में आधुनिकीकरण की परियोजना किस हाल में है, किस दिशा में बढ़ रही है तथा उसमें किस प्रकार के संशोधनों की आवश्यकता है। जब से जन शिक्षा का विचार सरकारी नीति का मान्य लक्ष्य बना, स्कूल की भूमिका विवेक की संस्कृति को प्रसारित करने की बन गई है। ऐसी संस्कृति की समाज के प्रति भी परिवर्तनकारी जिम्मेदारी होती है और यही वह जिम्मेदारी है जिसे शिक्षा प्रणाली संतोषजनक रूप से निभा नहीं सकी है। भारत में ग्रामीण प्रारंभिक शाला में ज्ञान की निर्मिति पर सारंगपाणि का हाल में प्रकाशित अध्ययन (2003) इस विषय में कुछ प्रारंभिक टिप्पणियां करता है। वे कहती हैं, 'स्कूल में कुछ मानक ढांचागत पदक्रम तथा मूल्य संगतताएं होती हैं, जिनमें से सभी की निष्पत्ति 'आधुनिक संस्था' के रूप में स्कूल द्वारा उपलब्ध करवाए गए ढांचे से नहीं होती'।

(सारंगपाणि, 2003; पृ. 247)

शिक्षा प्रणाली की कार्यकुशलता व क्षमता में बदलाव लाने के लिए स्कूल के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के उन अनुमोदित प्रगतिशील अभ्यासों को बेहद सावधानी तथा संवेदनशीलता के साथ स्थापित करना होगा, जो पाठ्यचर्या विकास तथा शिक्षाशास्त्र के रचनात्मक आंदोलन से जोड़ी जाती हैं। बाल-केंद्रितता की नारेबाजी से प्रसारित नहीं किया जा सकता। न ही तब तक नारे लगाने से आनंददायक तरीके से सीखना-सिखाना संभव है, जब तक स्वयं शिक्षक में बाल-केंद्रित सैद्धान्तिक समझ और अनुमोदित शिक्षाशास्त्र को टिका पाने का आत्म-विश्वास न पनपे तथा महज कुछ परिणामों की खातिर केवल शिक्षक को उपदेश देकर या उसके अनुकरण के लिए दबाव डालकर ऐसा नहीं किया जा सकता। गुणवत्ता को दृश्य संकेतकों एवं जवाबदेही से जोड़ने की प्रवृत्ति उन समस्याओं को केवल ओर अधिक उभारेगी जिन्हें गुणवत्ता का विमर्श संबोधित करने की चेष्टा कर रहा है। अगर हमारा लक्ष्य शिक्षा व्यवस्थाओं को अधिक कुशल बनाने का है तो बेहतर होगा कि हम कार्यकुशलता को संप्रेषण के मापदण्ड के रूप में देखने के डिवी के विचार को याद करें। यह विचार 'गुणवत्ता' के मानदण्डों की तलाश में हमें दो दिशाओं में जाने पर बाध्य करता है,

जिनका उपयोग शिक्षा के तुलनात्मक अध्ययन तथा सिद्धान्त-निर्माण के लिए किया जा सकता है। एक दिशा में हमें वे उपाय तलाशने चाहिए जो शिक्षक का आत्म-विश्वास बढ़ें। ऐसा तब संभव है जब शिक्षकों तथा नीति-निर्माताओं, पाठ्यचर्या रचने वाली एवं गैर-सरकारी संस्थाओं के बीच संप्रेषण सुनिश्चित किया जाए। दूसरी दिशा में हमें सभी स्तरों पर विवेक तथा शांति आधारित संस्कृति को प्रसारित करने में शिक्षा की भूमिका संबंधी ऐतिहासिक चेतना तलाशनी होगी, जो उस स्पर्धात्मक उग्रता की संस्कृति का स्थान ले सके, जिसे वैधता मिलती जा रही है। ♦

टिप्पणियां

1. वैश्वीकरण पर अब ढेर-सारा साहित्य उपलब्ध है, पर शिक्षा पर उसके प्रभाव का अध्ययन अब प्रारंभ ही हो रहा है। तीन पत्रिकाओं में इस विषय पर विशेषांक निकाले हैं ये हैं *एसेसमेंट इन एज्युकेशन* (7: 3 2000), *इन्टरचेंज* (30: 1, 1999) तथा *एज्युकेशनल थियोरी* (50: 4, 2000)। पहली पत्रिका में एक उपयोगी पुस्तक सूची है व शोध के सार्थक क्षेत्रों की सूची भी। एक सर्वव्यापी प्रक्रिया के रूप में वैश्वीकरण संबंधी प्रश्नों के लिए, *इन्टरनेशनल सोशल साइन्स जर्नल* (51: 160, 1999) तथा *सेमिनार* (503, जुलाई, 2007) देखें।
2. 'निर्मितिवाद' प्रॉस्पेक्ट्स (31: 2, 2007) का विशेष विषय था। यह विवाद का विषय है कि निर्मितवाद पिआजे पर आधारित है या उसकी जड़ें और पुरानी हैं। निर्मितवाद की प्रतिध्वनि पूर्व के बल्कि कई प्राचीन स्रोतों तक मिलती है, परन्तु अपने आधुनिक स्वरूप में निर्मितवाद के आधारभूत विचार-पिआजे से प्रेरित हैं। यद्यपि उनके कई विचारों तथा प्रयोगों को आज चुनौती दी जा रही है तथा उन पर बहस जारी है।
3. सुनील खिलनानी की रचना 'द आइडिया ऑव इण्डिया' (1997) भारत, उसकी उपलब्धियों तथा संघर्षों का श्रेष्ठ परिचय देती है। इसमें अनुमोदित अध्ययन सामग्री की एक सुविचारित सूची भी शामिल है। समसामयिक राजनीति तथा आर्थिक बदलावों के लिए, देखें कॉरब्रिज एवं हैरिस (2001)।
4. गांधी पर साहित्य लगातार बढ़ रहा है, पर कोई भी समीक्षा इतना संप्रेषित नहीं करती जितना हिन्द स्वराज (गांधी, 1997) का एंथनी जे पटेल का परिचय। टैगोर के परिचय के लिए देखें एल्महस्ट (1961)

संदर्भ :

- Aggarwal, Y. 2000. 'Monitoring and Evaluation Under DPEP', (New Delhi : National Institute of Educational Planning and Administration), mimeo.
- Balagopalan, S. and Subrahmanian, R. 2003. 'Dalit and Adivasi Children in Schools : Some Preliminary Research Themes', *IDS Bulletin* (34 : 1; pp43-54).

- Bernstein, B. 1996. *Pedagogy, Symbolic Control and Identity* (London: Taylor and Francis).
- Beteille, A. 2001. 'Equality and Universality', *Economic and Political Weekly* (36 : 38; pp3619-25).
- Bloom, D. E. and Cohen, J.E. 2002. 'Education for All : An Unfinished Revolution', *Daedalus* (Summer : pp84-95).
- Bowles, S. 1968, 'Towards Equality of Educational Opportunity', *Harvard Education Review* (38 : 1; pp89-99).
- Corbridge, S. and Harris, J. 2001. *Reinventing India* (Delhi : Oxford).
- Delhi University Science Teaching Group, et al. 1977. 'The Hoshangabad Vigyan', (*Science Today* : December; pp13-23)
- Dewey, J. 1916. *Democracy and Education, The Middle Works of John Dewey, Vol. 9* (Carbondale : Southern Illinois University Press, 1976).
- Dhankar, R. and Smith, B. 2002. 'Seeking Quality Education for All', Occasional Paper (Delhi : The European Commission).
- Dore, R. 1976. *The Diploma Disease* (London: George Alan Unwin).
- Dore, 1980. 'The Future of Formal Education in Developing Countries', in J. Simmons (ed.) *The Education Dilemma* (Oxford : Pergamon).
- Dreze, J. et al. 2003. 'The Future of Mid-day Meals', *Frontline* (20 : 16, August 2; pp85-90).
- Dube, S. C. 1988. 'Cultural Dimension of Development', *International Social Science Journal* (118; pp505-11)
- Elmhirst, L. K. 1961. *Rabindranath Tagore : A Pioneer in Education* (London : John Murray).
- Franklin, U. 1999. *The Real World of Technology* (Toronto : Anansi; rev. ed.).
- Gautam, S. K. S. 2003. *Synthesis Report on Student Achievement Under TAS* (New Delhi: NCERT).
- Gandhi, M. K. 1997. *Hind Swaraj and Other Writings* (ed. Anthony J. Parel; Cambridge : Cambridge University Press).
- Government of India, 1957. *Buniyadi Shiksha Mulyankan Samiti ki Report* (New Delhi : Department of Education & Scientific Research).
- Government of India, 1985. 'The Challenge of Education: A Discussion Paper' (New Delhi : Ministry of Human Resource Development).
- Government of India, 1986. *National Education Policy* (New Delhi : Ministry of Human Resource Development).
- Government of India, 2003. *Education for All: National Plan of Action* (New Delhi : Ministry of Human Resource Development).
- Gray, J. 2001. 'The Era of Globalization is Over', *New Statesman* (September 24; pp25-27).
- Hamilton, E. and Cairns, H. (Eds.) 1961. *The Collected Dialogues of Plato* (Princeton : Princeton University Press).
- Hanh, P. N. 1998. *The Heart of the Buddha's Teaching* (New York : Broadway).
- Heilbroner, R. 1992. *Twenty-First Century Capitalism* (Toronto : Anansi).
- Heneveld, W. and Craig, H. 1996. *Schools Count* (Washington : World Bank, Technical Paper No. 303).
- Jha, J. and Jhingran, D. 2002. *Elementary Education for the Poorest and Other Deprived Groups : The Real Challenge of Universalization* (New Delhi : Centre for Policy Research).
- Kamat, A. R. 1994. 'J.P. Naik', *Prospects* (24 : 1 & 2; pp203-216).
- Khilnani, S. 1997. *The Idea of India* (London : Hamish Hamilton).
- Kingdon, G. 1996. 'Private Schooling in India : Size, Nature and Equity Effects', *Economic and Political Weekly* (31 : 51; pp3306-14).
- Kothari commission 1964-66 entitled *Education and National Development* NCERT, 1971.
- Krishnamurti, J. 1992. *Education and the Significance of Life* (Chennai : Krishnamurti Foundation of India)
- Kumar, K. 1991. *Political Agenda of Education* (New Delhi : Sage).

Kumar, K. 1996. 'Agricultural Modernization and Education', *Economic and Political Weekly* (31 : 35-37; pp2367-74).

Leclercq, F. 2003. 'Education Guarantee Scheme and Primary Education in Madhya Pradesh', *Economic and Political Weekly* (38 : 19; pp1855-69).

Lawton, D. 1984. 'Metaphor and the Curriculum', in William Taylor (ed.), *Metaphors of Education* (London : Heinemann).

Malkova, Z. A. 1989. 'The Quality of Mass Education', *Prospects* (19; 1; pp33-45).

Naik, J. P. 1975. *Equality Quality and Quantity : The Elusive Triangle of Indian Education* (New Delhi : Allied).

Naumann, J. C. and Wolf, P. 2001. 'The Performance of African Primary Education Systems : Critiques and New Analysis of PASEC Data for Senegal', *Prospects* (31 : 3; pp 372-91).

NCERT, 1971. *Education and National Development* (New Delhi : NCERT).

NCERT, 1991. *Minimum Levels of Learning* (New Delhi : NCERT).

Patel, J. P. and Sykes, M. 1988. *Gandhi: His Gift of the Fight* (Rasulia, Hoshangabad, M.P. : Friends Rural Centre).

Patnaik, I. and Vasudevan, D. 2003. 'Human Development in the Nineties: A Tale Not Told by GDP Growth', *Margin* (35 : 2; pp93-112).

PROBE, 1999. *Public Report on Basic Education in India* (New Delhi : Oxford).

Raju, M. P. 2002. *Minority Rights: Myth or Reality* (Delhi : Media House)

Sadgopal, A. 1981. 'Between Question and Clarity : The Role of Science in People's Movement', (New Delhi : Indian Council of Social Science Research; Vikram Sarabhai Lecture) mimeo.

Sarangapani, P. M. 2003. *Constructing School Knowledge* (New Delhi : Sage).

कृष्ण कुमार ♦ —————

जाने-माने शिक्षाविद्, एनसीईआरटी के भूतपूर्व
निदेशक एवं संप्रति, केन्द्रीय शिक्षण संस्थान,
दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

————— ♦

Sarason, S. B. 1998. 'Some Features of a Flawed Educational System', *Daedalus* (Fall; pp1-12)

Smith, D. G. 1999. 'Economic Fundamentalism, Globalization, and the Public Remains of Education', *Interchange* (30 : 1; pp93-117) 25

Stenhouse, L. 1975. *An Introduction to Curriculum Research and Development* (London : Heinemann).

Stephens, D. 1991. 'The Quality of Primary Education in Developing Countries : Who Defines and Who Decides?', *Comparative Education* (27 : 2; pp223-33).

Sykes, M. 1987. *The Story of Nai Talim* (Wardha : Nai Talim Samiti).

Taylor, W. 1987. 'Metaphors of Educational Discourse', in W. Taylor (ed.) *Metaphors of Education* (London : Heinemann)

UNESCO, 2000. *World Education Forum : Final Report* (Paris: UNESCO).

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा